वैदिक आख्यान, लक्षण और स्वरूप

(डॉ० श्रीविद्यानिवासजी मिश्र)

'आख्यान' शब्दका अर्थ है किसी पूर्वज्ञात (प्रत्यक्ष या प्रामाणिक रूपसे या परम्परागत) घटना या अवस्थितिको समझानेकी क्रिया। 'ख्या' का अर्थ होता है प्रकट करना और 'आ' जोड़नेसे उसका अर्थ होता है भलीभाँति प्रकट करना। अभिनवगुप्तने आख्यानका लक्षण बतलाते हुए कहा कि आख्यान दृष्टार्थकथन है। 'अर्थ' शब्द वस्तुओं और घटनाओंकी तथ्यता है। वस्तुतः जो वस्तु दिखायी पड़ती है या जो घटना घटती है, उसका आधा ही ज्ञान होता है। इन्द्रियोंसे या मनसे आधा ही ज्ञात हो पाता है। उसकी वास्तविकताका पूरा ज्ञान नहीं होता; क्योंकि वह वास्तविकता केवल इन्द्रियगोचर या केवल मनोगोचर नहीं है। कभी-कभी वह बुद्धिगोचर भी नहीं होती। वह चेतनाके सबसे भीतरके प्रकाशसे उन्मीलित होती है। इसलिये दृष्टार्थ-कथनकी परिभाषा अत्यन्त व्यापक है और इस परिभाषामें यह निहित है कि वह न तो किसी घटनाका इतिहास है और न किसी घटनाका आधिभौतिक विवरण। हमारी प्रवृत्ति हर विषयको उसकी समग्रतासे समझनेकी रही है। इतिहास इस समझका अंशमात्र है। जब आख्यायिकाका संस्कृतमें लक्षण यह किया जाता है कि वह प्रसिद्ध इतिवृत्तोंपर आधारित होता है, तब उसका अर्थ यह होता है कि यह प्रसिद्धि केवल ऐतिहासिक दृष्टिसे नहीं है। यह आभ्यन्तर चक्षुसे प्रमाणपुरुषोंके द्वारा की गयी अपरोक्ष अनुभूतिका परिणाम है। वैदिक आख्यान वैसे तो संहिता भागमें ही मिलने लगते हैं, पर ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदोंमें आये आख्यान विशेष महत्त्व रखते हैं। ब्राह्मणोंमें जब किसी अनुष्ठानकी प्रक्रियाको समझाना होता था तो एक आख्यान सुनाया जाता था। वह आख्यान क्रियाकी अभिव्याप्ति स्पष्ट करता था। इस प्रकारसे यह आख्यान प्रत्येक आनुष्ठानिक सोपानको समझनेके लिये एक बड़ा चौखटा प्रदान करता था। कभी यह आख्यान सादृश्य-मूलक है, कभी प्रतीकात्मक है, कभी अन्योक्तिपरक है, कभी कार्य-विशेषमें घटी घटनाको देशातीत और कालातीत प्रस्तुत करनेवाला है। ऐसे ही आख्यानोंका उपबृंहण पुराणोंमें हुआ है। ये ही हमारे काव्य-साहित्य और नाट्यशास्त्रके बीज बनते हैं और ये ही हमारी कलाओंके संदर्भ बनते हैं। वैदिक आख्यानोंका सौन्दर्य तीन बातोंमें है। एक तो ये अत्यन्त संक्षिप्त हैं, इनमें नाटकीय चढ़ाव-उतार है और मुख्य प्रतिपाद्य ही दिया गया है। उसको सजानेकी कोशिश नहीं की गयी है। भाषा बड़ी ही पारदर्शी है, पर उसके साथ-साथ बड़ी गहरी है, बहुस्तरीय है। उसमें प्रवेश करते ही पटल-पर-पटल खुलते चले जाते हैं। कहीं भी शब्दका अपव्यय नहीं है। हर आख्यानका अन्त किसी-न-किसी प्रकारकी पूर्णताके भावसे होता है, इसीलिये ये आख्यान कालातीत हैं और परिणामतः इतिहाससे भी बाहर हैं। एक प्रकारसे सनातन हैं। इन आख्यानोंमें इतिवृत्तोंका विस्तार सीधी रेखामें नहीं है। जैसे—इस घटनाके बाद यह घटना आदि। न इनका विस्तार एक वृत्तके रूपमें होता है, जहाँसे घटना शुरू हो वहींपर लौट आये। यहाँ जो कुछ भी है, वह एक खुला वृत्त है अर्थात् ऐसा विवरण है जिसमें आगे बढ़ानेकी गुंजाइश मौजूद है। शंखवलय-जैसे होता है। उसमें छोटे वृत्तका विस्तार बड़े-से-बड़े वृत्तोंमें होता चला जाता है। वैसे ही इन आख्यानोंका विस्तार सम्भव होता है। ३-४ पंक्तियोंका आख्यान एक बहुत बड़ी कथा बन जाती है। **दौःषन्ति**—भरतका आख्यान अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक बना। पुरूरवा-उर्वशीके आख्यानमें अरणि-मन्थन (आग धधकानेके लिये जिन लकड़ियोंका प्रयोग होता है, उन्हें 'अरणि' कहते हैं)-के प्रसंगमें और विस्तृत होकर मनुष्य और प्रकृतिके बीच रूपान्तरकी सम्भावनाओंका अत्यन्त संश्लिष्ट रूपक बन जाता है। उत्तरवर्ती साहित्यको पूरी तरह समझनेके लिये ये वैदिक आख्यान चाभी हैं। उदाहरणके लिये छान्दोग्योपनिषद्के घोर आङ्गिरस और देवकीपुत्र कृष्ण-संवादका आख्यान ही गीताकी आधारपीठिका है। यहाँ इस आख्यानको पूरा देना संगत होगा। आख्यान इस प्रकार है—

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः॥ अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति॥ अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति॥ अथ यत्तपो दानमार्जवमहिꣳसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः॥ तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवावभृथः॥ तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसꣳशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः॥ आदित्यप्रत्नस्य रेतसः। उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरꣳस्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति॥

(छान्दोग्य० ३। १७। १—७)

इसका अर्थ यह है कि इस आभ्यन्तर पुरुषको जब भूख लगी होती है, प्यास लगी होती है, कहीं उसे चैन नहीं पड़ता, कहीं वह रम नहीं पाता, तभी जीवन-यज्ञमें उसकी दीक्षा होती है। जीवन-यज्ञके लिये वह अपनेको सौंपता है, क्योंकि यह व्याकुलता उसे दीखती है। यह सबकी व्याकुलता है। अकेली उसकी नहीं है। दीक्षाका अर्थ ही है अपनेको पूरी तरह खाली करना और भरे जानेके लिये प्रस्तुत करना।

जो वह खाता है, पीता है और रमता है, वही जीवन-यज्ञकी यज्ञ-वेदीके पास पहुँचना होता है। वही उपसद मन्त्रोंका उपयोग होता है। जब वह खा-पीकर रमकर प्रसन्न होता है, हँसता है, जब वह विविध प्रकारके भोगको आत्मसात् करता है, जब वह अत्यन्त निजत्वको सम्पूर्णत्वमें विलीन करता होता है, जब वह मिथुनीभावके साथ अद्वैतात्मक क्षणमें प्रविष्ट होता रहता है। अमावस्याकी इष्टिके सम्बन्धमें उसकी जो बात कही गयी है, उससे रूपक-शब्दावली लेकर कह सकते हैं कि अग्नि-सोमस्वरूपमें वह निगीर्ण होता रहता है और सोमाभिषव होता रहता है। यह स्थिति ही शास्त्रमन्त्रोंके उपयोगकी स्थिति है, जिनके द्वारा अन्तिम आहुति दी जाती है। वषट्कारके उच्चारणके साथ अन्तिम आहुति दी जाती है कि यह हम सबकी ओरसे सर्वात्मक देवताके लिये आहुति दे रहे हैं। हम सबके लिये यह आहुति कर्मोंका सूक्ष्म रूप है। समस्त जीवोंका साररूप है। समस्त सृष्टिका बीजरूप है। इस यज्ञसे जो तप, दान, आर्जव (निश्छल व्यवहार), अहिंसा और सत्यके आचरणका संस्कार उत्पन्न होता है, वही इस जीवन-यज्ञकी दक्षिणा है। इस यज्ञ-भावनासे जिया गया जीवन मानो अहंकारकी मृत्यु है और यह यज्ञ मृत्युके बाद पुनरुत्पादन है। सृष्टिका पुनः अनुकीर्तन है। इस यज्ञके बाद अवभृथ-स्नान किया जाता है, वह देहकी मृत्यु है। इसके बाद और अधिक स्फूर्तिके साथ नये यज्ञकी तैयारी होती है। इस यज्ञपुरुषरूप विद्याका उपदेश घोर आङ्गिरसने देवकीपुत्र श्रीकृष्णको दी तो उनकी तृष्णा-रूप प्यास बुझ गयी। वे इस भावमें आजीवन भरे रहे। इस उपदेशसे भरे रहे कि अनिकेतन हो, तुम्हारे लिये कोई घरका घेरा नहीं है। तुम अच्युत हो, तुम्हारा कुछ भी नहीं घटता। तुम अव्यय हो और तुम्हारे प्राण निरन्तर सानपर चढ़कर नये-नये रूपमें ओजस्वी होते रहते हैं। तुम प्राण-संचित हो। यही तुम अनुभव करते रहो। इस सम्बन्धमें दो ऋचाएँ हैं—

प्राचीन बीजका अंकुरण होता रहता है। एक जीवनदीप दूसरे जीवनदीपका प्रदीपक होता है। कुछ भी मूलरूपसे नष्ट नहीं होता। हम अन्धकारके पार जाते रहें। बराबर अपने अङ्ग-ज्योतिका दर्शन करते रहें। अपने आगे प्रकाशात्माको देखते रहें—यही देवताको देखना है। यही स्वयं द्युतिमान् होना है। यही उत्तम-से-उत्तम ज्योतिकी ओर अभिमुख होना है। इसी मार्गसे देवता भी परम प्रकाशके पास पहुँचते रहे हैं और उनसे प्रकाश पाते रहे हैं।

यज्ञके अर्थका विस्तार देते हुए इस छोटेसे आख्यानमें भारतीय जीवनका मूलमन्त्र बड़े ही क्रमबद्ध ढंगसे समझाया गया है—यह अपने-आप स्पष्ट है। जो इस उपदेशको नहीं समझेगा; वह श्रीकृष्णके बालजीवन, कैशोरजीवनकी लीलाओंका रहस्य और उनके उत्तरवर्ती जीवनके निःसंग कर्म-शृंखलाको तथा उनके चुपचाप जराके तीरसे आबद्ध होकर एकान्त 'रूप' में महाप्रयाणके रहस्यको नहीं समझ सकता।

यह आख्यान तो एक इतिहास-पुरुषके स्वरूप

और उनके संदेशको समझनेके लिये बीजके रूपमें है। एक दूसरा आख्यान हम दे रहे हैं, जो मनुष्यके स्वभावकी पहचानसे सम्बद्ध है। वह आख्यान बृहदारण्यकोपनिषद् (५। २। १—३)-में इस प्रकार है—

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्याज्ञासिष्टा ३ इति व्याज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्याज्ञासिष्टेति॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्याज्ञासिष्टा ३ इति व्याज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्याज्ञासिष्टेति॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्याज्ञासिष्टा ३ इति व्याज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्याज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत् त्रयꣳशिक्षेद्दमं दानं दयामिति॥

तात्पर्य यह है कि प्रजापतिके तीन संतान—देवता, मनुष्य और असुर अपने पिता प्रजापतिके आगे ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर तप करने गये। ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करनेके बाद देवताओंने कहा—'अब हमें उपदेश करें'। उनके लिये एक अक्षर पिता बोले—'द' और पूछा—'तुमने समझा'। हाँ, हमने समझा। हमें 'दमन' करना चाहिये (अपने भोगपर नियन्त्रण करना चाहिये)—यही आपने कहा। 'हाँ, तुमने ठीक समझा।' यह पिताने कहा।

इसके बाद मनुष्य व्रत करके गये और बोले—'हमें उपदेश करें'। उनको भी ब्रह्माने एक ही अक्षरका उपदेश दिया—'द' और पूछा—'तुमने समझा'? हाँ, हमने समझा कि आपने कहा 'दान करो'। हाँ, तुमने ठीक समझा।

अब इसके बाद असुर व्रत करके पहुँचे। आप हमें उपदेश करें। उनको भी एक अक्षरका उपदेश दिया—'द'। पूछा—'तुमने क्या समझा?' हाँ, हमने समझा, आपने कहा—'दया करो'। हाँ, तुमने ठीक समझा।

यह उपदेश दैवी वाणीके रूपमें बराबर होता रहता है। जब बादल गरजता है और उसमें 'द-द-द' का स्वर निकलता है। यही ध्वनि निकलती है—'दमन करो', 'दान करो', 'दया करो'। इससे शिक्षा लेनी चाहिये कि ये तीनों आवश्यक हैं। ये तीनों जीवनके मन्त्र हैं। अब इसका व्याख्यान करने बैठे तो मनुष्यके लिये दान ही व्रतका फल है। यह बीजमन्त्र है। इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि दानकी परिभाषा है ममत्वका त्याग करना। अपनेपनका दावा छोड़ना, किसी वस्तुके साथ ममत्व न रखना और रखना तो यह समझ कर कि यह वस्तु जितनी मेरी है, उतनी ही दूसरेकी भी और जितनी ममता मेरी है, उतनी ही दूसरेकी भी। यह दान अपने-परायेको जोड़नेवाला व्यापार है। यही मानवका उसकी दुर्बलताओंसे उद्धार है। दान देकर मनुष्य एकदम बड़ा हो जाता है। दानका कण वह पारसमणि है, जो लोहेको भी सोना बना देती है, पर शर्त यह है कि अपनेपनका निःशेषभावसे समर्पण होना चाहिये। उसके बिना दान दान नहीं। हमारे यहाँ दानपात्रोंसे पीढ़ी-दर-पीढ़ीको बाँधा गया है। उससे यह पता चलता है कि दानकी नींव हमारी संस्कृतिकी कितनी गहराईमें पड़ी है। जो दान ऋणके रूपमें ब्याजके लिये दिया जाता है—वह दान दान नहीं, दानका उपहास है। मनुष्यके लिये 'दान', असुरोंके लिये 'दया' और देवताओंके लिये 'दमन' क्यों इतना महत्त्वपूर्ण है? इसका कारण है कि मनुष्यके स्वभावमें ममता है। इसलिये दान उस ममताका स्वाभाविक विस्तार होता है, जो मनुष्यके उन्नयनका कारण है। देवताकी योनि भोगयोनि है। उसमें केवल सुखभोग है। यदि उस भोगका स्वभाव इस रूपमें परिवर्तित न किया जाय कि हम दूसरेके भोगकी बात सोचते हुए भोग करें तो वह भोग देवताकी कमजोरी हो जाता है। उसी प्रकार असुरवृत्तिका स्वभाव है दूसरेको दुःख देकर सुख पाना। अतः उसके लिये यह आवश्यक है कि वह दूसरेके दुःखसे दुःख भी पाये। उसके लिये वहाँ दयाका उपदेश है। दानवृत्तिका विस्तार ही मानव-संस्कृतिमात्रका विस्तार है, केवल भारतीय संस्कृतिका नहीं।

इन दो उदाहरणोंसे वैदिक आख्यानकी व्याप्तिका कुछ-कुछ अनुमान लगाया जा सकता है और यह भी

संकेत मिल सकता है कि सरल तथा सीधी भाषामें गहरे-से-गहरे सत्यका प्रकाशन जितना हो सकता है, उतना लम्बे-चौड़े व्याख्यानसे नहीं। आज भी लोकजीवनमें जो व्रतकथाएँ प्रचलित हैं, उनका साँचा भी इन्हीं आख्यानों-जैसा सारात्मक और प्रश्नोत्तरके रूपमें मिलता है। वहाँपर अनावश्यक विवरण नहीं है। आख्यानोंकी संरचनामें जो एक ही शब्दकी बार-बार पुनरावृत्ति मिलती है, एक ही वाक्यविन्यासकी बार-बार पुनरावृत्ति मिलती है, उससे उक्तिमें अपने-आप बल पैदा होता है, उक्ति पुष्ट होती है, उसका प्रभाव अनुरणन या बीजके रूपमें होता है।

वैदिक आख्यानोंको किसी गोटीमें बाँधना चाहें तो नहीं बाँध सकते। मोटे रूपमें कह तो सकते हैं कि कुछ आख्यान मनुष्य और देवताके सम्बन्धको समझानेवाले हैं, कुछ आख्यान सृष्टिके क्रमको समझानेवाले हैं, सृष्टिके रहस्यको समझानेवाले हैं, कुछ आख्यान प्रकृतिमें घट रहे विभिन्न परिवर्तनोंके अनुभवको समझानेवाले हैं, कुछ आख्यान देवताओं और असुरोंके प्रतिस्पर्धासे सम्बद्ध हैं, कुछ आख्यान देवताओंके परस्पर तारतम्य-सम्बन्धको और तारतम्यसे अधिक परस्पर अवलम्बनके सम्बन्धको स्थापित करनेवाले हैं और अनेक आख्यान ऐसे भी हैं, जिनमें कई उद्देश्योंका संश्लेष है।

वाक्तत्त्वसे सम्बद्ध आख्यान ऐसे ही संश्लिष्ट आख्यान हैं और सृष्टितत्त्वके भी ख्यापक हैं। मनुष्य और देवताके सम्बन्धके भी ख्यापक हैं। विभिन्न सत्ताओंके परस्पर अवलम्बनके भी ख्यापक हैं। उदाहरणके लिये प्रजापति और वाक्का प्रसिद्ध आख्यान है, जिसमें कहा गया है कि प्रजापतिने वाक्की रचना की और वे वाक्पर मोहित हो गये। यह मोह रुद्रसे सहन नहीं हुआ। उन्होंने ऐसे प्रजापतिका सिर काटना चाहा और बाण लेकर दौड़े। प्रजापतिने मृगका रूप धारण किया। रुद्र व्याध बने और मृगका सिर काट कर रख दिया। वही 'मृगशिरा' नक्षत्र हुआ। ब्रह्माका वह शरीर संध्याके रूपमें रूपान्तरित हुआ। ऊपरसे देखनेपर यह आख्यान एक वर्जित सम्बन्धकी बात करता है और साधारण लोगोंको इससे बड़ा धक्का लगता है; पर यह किसी बड़ी घटनाको समझनेका प्रयासमात्र है। समझानेके लिये ही धक्कामार भाषाका उपयोग किया गया है। रचना या सृष्टि दूसरेके लिये होती है। उसपर आधिपत्य करना रचनाकारके लिये सर्वथा अनुचित है और उतना ही अनुचित है, जितना उपर्युक्त वर्जित सम्बन्ध। अनौचित्यकी तीव्रताको द्योतित करनेके लिये यह बात कही गयी है।

यह बात केवल ब्रह्माकी सृष्टिपर ही लागू नहीं है, प्रत्येक रचनाके लिये लागू होती है। यदि रचनाकारका सिर, उसका अहंकार अलग नहीं हो जाता और रचना अपने कर्तासे विच्छिन्न नहीं हो जाती, वह कोई अर्थ नहीं रखती। रचनाकारका भोक्ताके रूपमें मृत्यु ही रचनाका धर्म है। इस प्रकार यह आख्यान एक सनातन सत्यका ख्यापन है। ऐसे ही सैकड़ों आख्यान वैदिक वाङ्मयमें हैं। उनके गहरे अर्थका अन्वेषण जितना भी करें, उतना कम है; क्योंकि उसमें असीम अर्थकी सम्भावनाएँ हैं। जो लोग उसे तर्ककी कसौटीपर या अवधारणाओंकी नूतन कसौटीपर कसते हैं, वे इन आख्यानोंके भीतर निहित अत्यन्त सघन आध्यात्मिक उत्साहको नहीं पकड़ पाते। वस्तुतः ये आख्यान अपर्याप्त भाषाको पर्याप्त करनेवाले हैं। इनमें केवल सामाजिक, ऐतिहासिक और भौतिक अर्थ ढूँढ़ना इनके समग्र सौन्दर्यको खण्डित करना है। वेदाख्यानको समझनेके लिये—'ये किस व्यापारसे सम्बद्ध हैं, किन-किन ब्राह्मणों तथा आख्यानोंमें आये हैं'—इस सम्बन्धसे कटकर समझनेका प्रयत्न ठीक प्रयत्न नहीं कहा जायगा। उसी प्रकार जिस प्रकार विवाहके अवसरपर मधुबनीमें जो राम-सीताके विवाहकी विविध छवियाँ भीतपर अंकित होती हैं। उन छवियोंको यदि उत्सवके क्षणसे काटकर देखेंगे और उत्सव-देशसे काट कर देखेंगे तो हम उसकी सजीवता नष्ट कर देंगे। निष्कर्षरूपसे हम यह कह सकते हैं कि वेदाख्यान उक्तिमात्र नहीं हैं, कथामात्र नहीं हैं, अपितु ये आख्यान एक बड़े व्यापारके अविभाज्य अङ्ग हैं।